



द्रव्यदृष्टि प्रकाशमें से दृष्टि का परिणमन और द्रष्टि का विषय सम्बन्धित पूज्य श्री निहालचंद्रजी सोगानीजी के चयन किये गये वचनामृत

आत्मा, ज्ञान और सुख से भरा हुआ है, फिर अपने को चाहिए भी क्या? लोग जन्म-मरण से छूटना चाहते हैं, लेकिन मैं तो जन्म-मरण से रहित ध्रुव हूँ; उत्पाद-व्यय के साथ भी मैं खिसकता नहीं। २५१.

\*\*\*

‘मैं ही पुरुषार्थ की खान हूँ न’! दृष्टि ने पुरुषार्थ की खान का कब्जा ले लिया, फिर पर्याय में पुरुषार्थ, सुख आदि सहज होता ही है। २५५.

\*\*\*

जैसे मृत्यु का बाझा ताव से छूटता है, ऐसे ‘परिणाम मेरे से सर्वथा भिन्न है’ (—ऐसा ज़ोर देने पर ही) दृष्टि परिणाम से छूटती है। २६९.

\*\*\*

‘शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम’—इसमें पर्याप्त बात बतला दी है। फिर जो बात आती है, वह तो परलक्ष्यीज्ञान की निर्मलता के लिए सहज हो तो हो। २८१.

\*\*\*

दृष्टि की तुलना में चारित्र का पुरुषार्थ अनंतगुना है, लेकिन उसकी भी मुख्यता नहीं (क्योंकि वह भी पर्याय है); दृष्टि के विषय की मुख्यता में उसकी भी गौणता रहती है। २८२.

\*\*\*

प्रश्न :— सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा कैसा है?

उत्तर :— सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा—ध्रुव, अभेद, एकरूप, शुद्ध, अखण्ड, कूटस्थ, अपरिणामी है। २८६.

\*\*\*

एक समय की पर्याय को छोड़कर जो सामान्य वस्तु रह जाती है, वही दृष्टि का विषय है। २८९.

\*\*\*

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जून-२०२०) का शुल्क उपकृत मुमुक्षु वृंद के नाम से साभार प्राप्त हुआ है। जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।

# स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५४६: अंक-२७०, वर्ष-२४, जून-२०२०

आषाढ कृष्ण ५, गुरुवार, दि. ७-७-१९६६, योगसार पर  
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, गाथा-७६ प्रवचन-२८

आगम का सार आ गया। आगम का यह सार है, यह योगसार। जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे कहाँ जुड़ान करना और कहाँ से हटना? मुद्दे की बात है। जिसे आत्मा का हित अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र - ऐसा धर्म प्रगट करना हो, उसे आत्मा का स्वभाव परिपूर्ण है, उस पर उसे दृष्टि देना और रागादि, निमित्त आदि भेद आदि से दृष्टि हटाना - ऐसा यहाँ 'योगसार' में कहा जाता है।

अब, यहाँ कहते हैं आत्मा के गुणों की शुद्ध भावना करे। यद्यपि वस्तु एक समय में पूर्ण अनन्त गुण की पिण्ड एकरूप है, वही आश्रय करने योग्य है परन्तु उसमें नहीं रह सके, तब उन गुणों के विचार करना - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **बे ते चउ पंच वि णवहँ सत्तहँ छह पंचाहँ।**

**चउगुण सहियउ सो मुणइ एयहँ लक्खण जाहँ।। ७६।।**

उस आत्मा को... उस अपने आत्मा को दो, तीन, चार, पाँच नौ, सात, छह, पाँच, और चार गुणसहित जानें। यहाँ तो व्यवहार से विचार करे तो उसका विचार करे - ऐसा कहते हैं। समझ

में आया? बीच में भक्ति का, पूजा का, दान का व्यवहार आवे, वह अलग बात है परन्तु इसे व्यवहार कहना तो नजदीक का यह व्यवहार है। निश्चय से तो एक स्वरूप भगवान आत्मा अनन्त गुण का एकरूप स्वरूप है, उसमें एकाकार, उसका लक्ष्य करके एकाकार होना, वह वस्तु का स्वरूप और निश्चय वह है परन्तु उसमें नहीं रह सके तो उसमें जाने से पहले, स्थिरता से पहले ऐसे गुण के भेद का विचार करे, यह कहते हैं। नजदीक में नजदीक गुण के विचार करना, वह उसका व्यवहार है - ऐसा यहाँ कहते हैं। भाई! दूसरा जो भक्ति, व्रतादि का व्यवहार हो या बाहर का अमुक हो। समझ में आया?

आत्मा के ध्यान के लिये आत्मा के स्वरूप की भावना करना योग्य है। भगवान आत्मा, जिसमें अनन्त वीतरागता, अनन्त आनन्द - ऐसे गुणों का एकरूप ऐसा आत्मा, उसे ज्ञायकभाव से भाना, एकस्वरूप से भाना वह मुख्य लक्षण है, मुख्य कर्तव्य तो यह है। समझ में आया? उसमें नहीं रह सके, तब निश्चय से यह आत्मा एक सत् पदार्थ है, ज्ञायक अखण्ड प्रकाशरूप है, केवल अनुभव योग्य है... तो वह एक अखण्ड वस्तु है,

समझ में आया? धर्म कर्तव्य करनेवाले को एक ज्ञायकभावस्वभाव का अनुभव करना, वह उसका कर्तव्य है परन्तु व्यवहारनय से यह अनेक प्रकार विचारा जा सकता है... ठीक लिखा है। समझ में आया?

आत्मा का कल्याण करना हो तो आत्मा कैसा है? - ऐसा पहले उसे जानना चाहिए और जानकर आत्मा के रूप में एकाग्र होना चाहिए। जिसमें से शान्ति-धर्म-हितदशा प्रगट होती है - ऐसा आत्मा पहले बराबर अनन्त गुणों का एकरूप स्वरूप जानकर उसमें ही लक्ष्य करने योग्य है परन्तु उसमें लक्ष्य करके स्थिर नहीं हो सके तो व्यवहारनय से उसे विचार आता है, भेद का विचार आता है। क्या?

दो प्रकार से विचार करे तो यह गुण-पर्यायवान है। एक प्रकार से तो ज्ञायकभाव है, यह तो एक

वस्तु। समझ में आया? बहुत संक्षिप्त है। यह तो 'योगसार' है न! एक प्रकार से ज्ञायक चिदानन्द पूर्णानन्द प्रभु का ही अनुभव करना, यह तो वस्तुस्थिति है। उसमें न रह सके तो दो गुण का विचार करना, यह विकल्प / भेद है। आहा...हा...! समझ में आया? यह 'योगसार' का व्यवहार भी अलग प्रकार का है।

वस्तु-ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ एकरूप वस्तु है। उसका ही ध्यान, उसका लक्ष्य, उसकी श्रद्धा, उसमें स्थिरता ही मोक्षार्थी का कर्तव्य है परन्तु उसमें नहीं रह सके, तब व्यवहारनय से वह गुण और पर्यायवाला है - ऐसे

विचार आते हैं। वह वस्तु जो ज्ञायकभाव, पूर्ण एकरूप वस्तु, उसमें लक्ष्य लेकर स्थिर नहीं हो सके, तब वह आत्मा गुण-पर्यायवाला है - ऐसे विकल्प, विचार आते हैं। समझ में आया? उसके विचार आते हैं (कि) यह गुण-पर्यायवाला है। दूसरे आत्माओं और दूसरी बात की बात यहाँ नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र ऐसे होते हैं, यह सब व्यवहारश्रद्धा स्थूल में जाती है। समझ में आया?

मुमुक्षु : यह देखने में नहीं आया?

उत्तर : यह, वह

देखने में आवे उसी की बात है। देखनेवाला स्वयं को देखकर विचार करता है। देखनेवाला कौन है? जड़ है? देखनेवाला भगवान आत्मा अपने मूल स्वरूप को - एकरूप को देखता हुआ स्थिर हो, यह तो उसका मूल कर्तव्य है, यह तो उसका मूल आचरण है और यह



आचरण मोक्ष का कारण है। आहा...हा...! उसमें स्थिर नहीं हो सके, पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण, कमजोरी के कारण विकल्प उत्पन्न हो, एकरूप निश्चय में स्थिर नहीं रह सके तो गुण का विचार (करे)। यह आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त स्वच्छता ऐसे गुणों का (धारक है), परन्तु यह आत्मा के गुण और उनकी अवस्था, यह गुण-पर्यायवाला है - ऐसे विचार आते हैं, वह भी व्यवहार है, विकल्प है, भेदरूप विचार है। लो, समझ में आया?

अपने भीतर अनेक गुण व पर्यायों को रखता है... भगवान आत्मा यह वस्तु, वस्तु है। अन्तर

में स्वयं भगवान अनन्त गुण और अनन्त अवस्था रखता है। वस्तु का उसका उसी के भेद से विचार करना - ऐसा कहते हैं। आहा...हा...! समझ में आया? भगवान आत्मा जिसे धर्म करना है, जिसमें धर्म करना है - ऐसा भगवान पूर्ण स्वरूप, उसका लक्ष्य करके स्थिर होना, उसमें नहीं रह सके तो यह आत्मा अनन्त गुणवाला है और अनन्त गुण है तो उनकी पर्याय भी अनन्त गुणवाली है, पर्याय भी अनन्त है - ऐसे उसे एक को दो प्रकार से विचार करना। आहा...हा...! समझ में आया? यह भी व्यवहार आया। समझ में आया?

एकडे एक और बिगड़े दो। दो विचार आये, वह विकल्प आया (तो) बिगाड़ खड़ा हुआ। यह स्थिर न हो सके तो ऐसे विचार में रहना - इतनी बात वहाँ ली है। आहा...हा...! यहाँ तो मूल बात है न! यह भेद पड़ा, वह वास्तव में योगसार नहीं है। उसका व्यवहार (है)। योगसार तो अखण्ड ज्ञायकमूर्ति प्रभु में अन्तर में ढलकर एकाकार होना वही उसकी वस्तु है, फिर योगसार की दशा, योगरूप से जुड़ने में काम न करे तो—उसी के यह गुण और यह पर्याय का माहात्म्य करता हुआ अन्तर्मुख समाने का प्रयत्न करे। समझ में आया? यह अकेली मक्खन की बात है। दूसरे कहते हैं, इसमें निश्चय में व्यवहार की बात ही नहीं करते परन्तु यह व्यवहार की बात क्या करे? सुन न, दूसरा व्यवहार बीच में आवे, भले ही उस समय आवे परन्तु यह व्यवहार, इसके समीप का व्यवहार तो यह है, समझ में आया? आहा...हा...!

अथवा यह ज्ञान-दर्शनस्वरूप है... भगवान आत्मा वस्तु, उसके अनन्त गुण, उसकी पर्याय यह भेद पड़ा, यह व्यवहार हुआ अथवा भगवान आत्मा दर्शन-ज्ञानस्वरूप है। वह परमात्मा स्वयं एक स्वरूप में दर्शन-ज्ञानस्वरूप है - ऐसे दो गुणों से विचारना,

वह भी एक व्यवहारनय का विकल्प है। समझ में आया? ऐसा अद्भुत धर्म है, भाई, वीतराग का! लोगों को ऐसा लगता है कि यह निश्चयवाले... मुनि को कहते हैं, यह क्या लगा रखा है तुमने? व्यवहार डाला तो ऐसा व्यवहार डाला? वह व्यवहार इसमें क्यों नहीं रखा? यह बात तो पहले हो गयी, जिस किसी को स्वरूप की दृष्टि और स्थिरता हुई, उसे अन्तर पञ्च महाव्रत का विकल्प निमित्त होता है, और फिर स्वरूप का साधन उग्ररूप से अन्दर करता है - यह बात पहले कह गये हैं। समझ में आया? यहाँ तो अन्तर में भगवान आत्मा का ही घोलन करने में व्यवहार खड़ा होता है, उसकी बात करते हैं।

यह एक ही काल में अपने को और सर्व पर पदार्थों को देखने-जाननेवाला है। भगवान आत्मा एक ही काल में सबको जाननेवाला और देखनेवाला है। किसी को अपना माननेवाला या किसी को अपने में मिलानेवाला यह उसके स्वभाव में नहीं है - ऐसा कहते हैं। उसके स्वभाव में जानना-देखना है - ऐसा कहते हैं। ऐसा भेद का विचार करना। उसका स्वभाव जानना-देखना है। अनन्त लोकालोकादि पदार्थ हों, उसमें कहीं जानने-देखने के अतिरिक्त उसका स्वभाव, यह मेरा (और) मैं उसका - ऐसा उसके स्वरूप में नहीं है। समझ में आया? ओहो...!

आत्मवस्तु जाननहार और देखनहार - ऐसा स्वभाव धारक आत्मा है। वह किसी पर को अपना माननेवाला - ऐसे स्वभाव का धारक नहीं है। वैसे ही मैं पर का हूँ - ऐसा कोई स्वभाव धारक नहीं है परन्तु मैं मुझे और पर को जानने-देखने के स्वभाव का धारक हूँ, रखनेवाला हूँ - ऐसा भेद, उसे व्यवहार कहते हैं। आहा...हा...! मांगीलालजी! अद्भुत बात! यह उन वीतराग का

व्यवहार! दूसरे सब चिल्लाते हैं, 'अरे... अरे...!' भगवान! सुन न, भाई! निश्चय की दृष्टि और अनुभव होने पर (भी) स्थिर नहीं रह सके, तब बीच में व्यवहार-बन्ध के कारण के भाव आवें, वे भी बन्ध के कारण के भाव हैं। उनका उत्साह क्या? जिसका खेद हो, उसका उत्साह क्या? क्या कहा? व्यवहार बीच में आता है, खेद है कि बीच में आता है। ऐसा कहा है न? वह हेतु है। ओ...हो...!

भगवान आत्मा मेरा ध्रुवस्वभाव जिसमें एकरूपपना त्रिकाल (रहा है), उसके अन्तर में - ध्रुव में एकाकार (होना), उसी में रुचि, उसका ज्ञान और उसकी रमणता (करना), वही वस्तु है, वही कर्तव्य है; वह मोक्ष के लिये कारणरूप भाव है परन्तु कहते हैं कि भाई! उसमें स्थिर नहीं रह सके, कमजोरी - पुरुषार्थ की बहुत कमजोरी है, इसलिए उसे व्यवहार आवे तो ऐसा विचार करना। यह तो जानने-देखनेवाला, जानने-देखनेवाले भाव/गुण का धारक आत्मा है - ऐसा विचार-विकल्प आता है। आहा...हा...! समझ में आया? समस्त लोकालोक - राग से लेकर देव-गुरु-शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार या छह द्रव्य सब - मैं अपने में रहकर जानता-देखता हूँ। मैं अपने में रहकर जानू-देखूँ - ऐसे स्वभाव का धारक, वह मैं आत्मा हूँ। उसके ऐसे विचार को भी व्यवहार कहा जाता है। आहा...हा...! ए... निहालभाई! उसे अभी पुण्य-बन्ध का कारण कहते हैं। अद्भुत बात, भाई! समझ में आया?

भाई! परमेश्वर का पन्थ तो कोई अलौकिक है। स्वयं परमेश्वर है। परम-ईश्वर, जिसमें ईश्वर की अकेली महानता, ईश्वर का पुञ्ज भगवान पड़ा है। आत्मा अर्थात् एक ईश्वर नहीं, समझ में आया? वह ज्ञानगुण से ईश्वर, दर्शनगुण से ईश्वर, चारित्रगुण

से ईश्वर अनन्त गुण से ईश्वर, अनन्त गुण का ईश्वर - ऐसा वह विचार करे, कहते हैं। वह विकल्प और भेद है। आहा...हा...! कहो, रतिभाई! यह पढाई कैसी होगी? तुम्हें तो यह का यही सीखना, हर रोज इसी का पहाड़ा और यह का यही पहाड़ा। हिम्मतभाई! यह का यही न! प्रतिदिन नया क्या होगा? है? पुस्तकें नयी छपाये, कहते हैं। दो-दो वर्ष में बदलती होगी, नहीं? नहीं भी बदलती, यह तो नहीं बदलती ऐसी बात। एक ही प्रकार का धन्धा और एक ही प्रकार की पुस्तक!

भगवान आत्मा अनन्त गुण राशि प्रभु में अन्तर में एकाकार दृष्टि, रुचि और स्थिरता (होना), ऐसी अखण्ड वस्तु की दृष्टि ज्ञान और रमणता... बस! यह का यही मोक्ष का मार्ग है परन्तु इसमें नहीं रह सके तब वह दृष्टि ज्ञान और रमणता होने पर भी ऐसा भेद उठता है। अमुक तो दृष्टि ज्ञान और एकाकार होने पर भी उसे ऐसे विचार आते हैं कि ओहो...! इसका एक-एक गुण ईश्वर और उसकी पर्याय भी ईश्वरवान - ऐसे अनन्त गुण की ईश्वरवान पर्याय और गुण, उसका वह धारक, उसका वह धारक - ऐसा व्यवहारनय का विकल्प उसे आता है। कहो समझ में आया? अरे...! परमेश्वर का मार्ग...! परमेश्वर आत्मा स्वयं और परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने बताया हुआ पन्थ, वह अलौकिक ही होगा न, भाई! लौकिक के साथ कहीं उसका मेल खाये ऐसा नहीं है, दुनिया के साथ परमेश्वर के पन्थ को कहीं मेल नहीं है। ऐसा दुनिया से तो अतड़ो (भिन्न है) अतड़ो को क्या कहते हैं? भिन्न, अतड़ो अर्थात् दूसरे के साथ मेल नहीं खाये ऐसा। अतड़ो हमारी काठियावाड़ी भाषा है। अतड़ो अर्थात् किसी के साथ मेल नहीं खाये, किसी के साथ मिले नहीं। इसमें कुछ बोला जाये - ऐसा नहीं है। प्रेमचन्दभाई को कहता हूँ।

तीन प्रकार से विचार करे। उत्पाद, व्यय और ध्रुव। आहा...हा...! भगवान आत्मा.... पहले गुण-पर्याय को जानकर निर्णय और दृष्टि की हो और जिसने दृष्टि नहीं की उसे भी ऐसे विचार पहले आते हैं और दृष्टि करके अनुभव किया हो, उसे भी स्थिरता नहीं हो, तब ऐसे विचार आते हैं, उसे व्यवहार कहते हैं। यह आत्मा ध्रुवरूप से शाश्वत् है, नयी अवस्था से उत्पन्न होता है, पुरानी अवस्था व्यय-अभाव होता है - ऐसा उसका उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप, उस एक स्वरूप में तीन भेद से विचारने का नाम व्यवहार है। समझ में आया? यह व्यवहार

आता है, बीच में आये बिना रहता नहीं परन्तु है, उसका उत्साह करने योग्य नहीं है, उसका अनुसरण करने योग्य नहीं है। आता अवश्य है, आहा...हा...! अद्भुत बात, भाई! कहा है न वहाँ? व्यवहार-दर्शन, ज्ञान-चारित्र का धारक वह आत्मा है, परन्तु वह व्यवहार अनुसरण करने योग्य नहीं है, हाँ! कहनेवाले और सुननेवाले दोनों को, बस ऐसा कहते हैं।

(प्रवचनका शेष अंश अगले अंक में...)

(पूज्य भाईश्री प्रवचन...)

लेकिन यदि वह गुस्सा हुए तो उनके बोलने के शब्दों का ठिकाना नहीं रहता। सज्जन मनुष्य बोल भी नहीं सकता। ऐसी गड़बड़ी हो जाती है। अन्दर भरा है, मूलमें-से जब तक कटता नहीं, तब तक क्या हो? वह सब तो बाहर की क्रिया है, राग की क्रिया है। शरीर की क्रिया, राग की क्रिया। धून चढे तो मनोबल तो सामान्य प्राणी को भी, प्रेक्टिस से इतना होता है कि सर उतारकर दे दे। मनोबल ऐसी चीज है कि एक राग और द्वेष के आश्रित जोर करे तो अपने हाथ से अपना सर काटकर सामने दे दे, ऐसे मनुष्य होते हैं। परन्तु सम्यक् प्रकार से दोष का नाश होना, उसके लिये एक अलग ताकत चाहिये, अलग शक्ति चाहिये।

इसलिये श्रीमद्जी ऐसा लिखते हैं कि कोई बाहुबल से स्वयंभूरमण समुद्र तैरकर, अकेले ही दस हजार सुभट को, सैनिक को नहीं, सुभट को-सोल्जर को हराये उससे भी, जो दर्शनमोह का नाश करता है उसकी शक्ति ज्यादा है। ऐसा लिया है। उसकी शक्ति विशेष है। उसे जो अंतरंग आत्मशक्ति का विकास हुआ वह अनन्त शक्ति के पिंड के आधार से किया है। उसका आधार भगवान है—स्वयं का निजप्रभु है।

(प्रवचनका शेष अंश अगले अंक में...)



पूज्य भाईश्री शशीभाई द्वारा परमागमसार  
ग्रंथके वचनामृत-१५१ पर भाववाही  
प्रवचन, दि.१६-१-१९८३, प्रवचन  
क्रमांक-५५ (विषय : मार्गदर्शन)

शंका :- तो फिर हम शास्त्र पढ़े  
या नहीं?

समाधान :- आत्मलक्ष्य से शास्त्र  
पढ़ना-ऐसा प्रवचनसार में कहा है, क्योंकि  
शास्त्रों का कहना ऐसा है कि भगवान  
आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शाश्वत आनन्द की  
मूर्ति है—उसका ज्ञान करना, अनुभव  
करना। करणानुयोग या चरणानुयोग के पढ़ने  
से लाभ क्या?—कि उन चारों अनुयोगों  
के पढ़ने का गुण तो आत्म-अनुभव प्राप्त  
करना है—यही शास्त्र पढ़ने का लाभ है  
अर्थात् 'आत्म-अनुभव करना ही शास्त्राभ्यास  
का तात्पर्य है।' १५१

(पिछले अंग से आगे, ४१:०० मिनट से...)

'क्योंकि शास्त्रों का कहना ऐसा है कि,  
भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु शाश्वत आनन्द  
की मूर्ति है,...' आत्मा तो त्रिकाल सत् है। चित् नाम  
ज्ञान-दर्शनस्वरूप चैतन्यस्वरूप है। और उस चैतन्यस्वरूप  
में कषाय का सर्वाश अभाव होने-से ज्ञान स्वयं, शुद्ध  
ज्ञान स्वयं रागरहित और कषायरहित होने-से निराकुल  
आनन्दस्वरूप है, सुखस्वरूप है ऐसा प्रभु है। प्रभु है  
इसलिये उसकी प्रभुता में कहीं लाचारी और दीनता नहीं  
है। उसे किसीकी आवश्यकता एवं जरूरत नहीं।

बिना किसी के अभी ही पूर्ण हूँ। सोगानीजी लिखते  
हैं कि गुरुदेव के उपदेश का सार मैंने यह लिया है। सार  
लिया है स्वयं ने, परन्तु चढ़ाते हैं गुरु के नाम पर कि  
गुरुदेव के उपदेश का सार मैंने यह लिया है कि बिना  
किसी के मैं अभी ही परिपूर्ण हूँ। ऐसी मेरी प्रभुता है।  
ऐसा प्रभु आत्मा नित्य है, अनादिअनन्त है। शाश्वत है  
अर्थात् अनादिअनन्त है।

'आनन्द की मूर्ति है,...' जैसे मोम की मूर्ति  
होती है, कोई धातु की मूर्ति होती है पाषाण की, ऐसे  
आनन्द की ही पूरी मूर्ति है। बेहद अपरिमित आनन्द

उसके अन्दर शाश्वतपने रहा है। ऐसा नहीं है कि क्षणभर  
भोगने के पश्चात् आनन्द नहीं है, ऐसा नहीं है। परिणाम  
का प्रवाह चला आ रहा है। अनेक गुणों का परिणाम  
साधकदशा के अन्दर शुद्ध-अशुद्ध मिश्र भले हो, परन्तु  
ऐसा आनन्दमूर्ति आत्मा शाश्वत खड़ा है, अचलितपने  
खड़ा है, उसमें कहीं भी प्रवाहितपना नहीं है। ऐसे  
आनन्दधन में कोई प्रवाहितपना नहीं है। परिणाम है वह  
भले प्रवाहित हो, बहती चीज हो परन्तु आत्मा प्रवाहित  
नहीं है। आत्मा शाश्वत टंकोत्कीर्ण ज्यों का त्यों रहता है।

ऐसे शाश्वत त्रिकाली का ज्ञान करना, 'उसका  
ज्ञान करना...' ज्ञान करना माने 'अनुभव करना।' इस प्रकार शास्त्र पढ़ने का यह आशय है। पढ़ते रहना वह  
तो एक राग के ज़ोर में होता रहता है कि यही कार्य

करना। यही करते रहना... यही करना.. यही करना.. ऐसा नहीं। उसमें जो कहने चाहते हैं उसका अनुसरण करना, उसका अनुकरण करना, उसमें झुकना, तब उसे शास्त्र पढ़ने का गुण ऐसा उपचार लागू पड़ता है, नहीं तो उसे शास्त्र पढ़ने का गुण है यह बात लागू नहीं पड़ती।

मुमुक्षु :— ज्ञान करना यानी अनुभव करना ?

पूज्य भाईश्री :— ज्ञान करना यानी अनुभव करना।

और एक आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से यदि सत्शास्त्र का अध्ययन हो तो उसका ज्ञान हुए बिना रहता नहीं— अनुभव हुए बिना रहता नहीं। ऐसी सटीक अनुभव की विधि और कथन की शैली की सटीकता सर्व शास्त्रों में और सर्व ज्ञानियों के वचन में प्रसिद्धरूप से आती है। कोई भी वचन लो। चाहे अनुभवप्रकाश का दीपचंद्रजी का लो, चाहे सोगानीजी का द्रव्यदृष्टि प्रकाश लो, चाहे पूज्य बहिनश्री के वचनामृत लो। गुरुदेव का वचन लो या कुन्दकुन्दाचार्य का, अमृतचन्द्राचार्य का वचन लो, सब में आत्मा सटीकरूप से दर्शाया गया है। ऐसी सटीकता से दर्शाया गया है कि जीव को अनुभव हुए बिना रहे नहीं। यदि वह, आत्मलक्ष्य से उसका स्वाध्याय करे तो। इतनी शर्त है।

परलक्ष्यीज्ञान में तो अंग-पूर्व का ज्ञान द्रव्यलिंगी भी करता है और अभवी भी करता है। अभवी भी द्रव्यलिंगी हो सकता है। वहाँ तक तो बाह्याचरण शुभोपयोग की क्रिया पंच महाव्रत की और शास्त्र अध्ययन की क्रिया अभवी को भी होती है। बारह अंग और मुनिपना का निरतिचार पालन। अभी है गड़बड़वाला नहीं परन्तु निरतिचार पालन अभवी करता है। ग्यारह अंग, नव पूर्व उपरांत, चौह पूर्व नहीं, ऐसा। वहाँ तक जाता है। उसका कोई मतलब नहीं।

**‘करणानुयोग या चरणानुयोग पढ़ने से लाभ क्या?’** पुनः ऐसा कहते हैं कि द्रव्यानुयोग में आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय का विषय आये और वह ठीक है,

परन्तु जो अन्य तीन अनुयोग हैं, करणानुयोग में कर्म की बात आये, चरणानुयोग में बाह्याचरण की बात आये, कथानुयोग में अनेक व्यक्तियों के चारित्र की बात आये। लो, ठीक! वह एक पूरा अनुयोग है। व्यक्तियों के चारित्र का एक अनुयोग है कथानुयोग। वहाँ व्यक्ति-पूजा का सवाल नहीं है। भगवान की वाणी में संकलित विषय है पूरा।

जो कोई पुराण पुरुष हैं, जो कोई महात्मा हुए और होंगे, उनकी कथाएँ वह, चार अनुयोग का भगवान को स्वीकृत ऐसा प्रकार है। ज्ञान के अनुयोग में स्वीकृत ऐसा प्रकार है, दिव्यध्वनि में वह विषय आया है। दिव्यध्वनि में ऐसा आया। ये, बहिनश्री ने प्रसिद्ध किया न कि, यह फत्तेहचंद्रकुमार धातुकी खण्ड में सूर्यकीर्ति नाम के तीर्थकर होंगे। व्यक्ति-पूजा का सवाल नहीं है। वह कथानुयोग का विषय हो जाता है वहाँ। वहाँ उस महात्मा का, उन पुरुषों का कथानुयोग का विषय होता है कि जो दिव्यध्वनि संमत है। ऐसा है। व्यक्ति-पूजा नहीं है। यह तो आप के हिन्दीवाले अभी बहुत छापते हैं न, व्यक्ति-पूजा मत करो.. व्यक्ति-पूजा मत करो। भाई! वह गुण पूजा है, हकीकत में वह गुण पूजा है।

**‘करणानुयोग या चरणानुयोग के पढ़ने से लाभ क्या?’** ऐसा पूछते हैं। **‘कि उन चारों अनुयोगों के पढ़ने का गुण...’** लो, जवाब में ऐसा आया है। प्रश्न दो का लिया है। **‘चारों अनुयोगों के पढ़ने का गुण तो आत्म-अनुभव प्राप्त करना है,...’** चारों अनुयोगों में कहीं भी आत्म-अनुभव के विषय को छोड़कर, कोई अनुयोग नहीं चलता। भरत चक्रवर्ती है। वे सब त्रेसठ शलाकापुरुष हैं न। त्रेसठ शलाकावाले हैं। युद्ध करते हैं, पूरा दिन युद्ध करे। मारो, काटो की लड़ाई चले। सायंकाल में युद्ध विराम घोषित हो, तब संध्या करने बैठ जाये। ये ब्राह्मण सुबह-शाम संध्या करते हैं न? संध्या कहो या सामायिक कहो। निज स्वरूप चिंतवन



में शुद्धोपयोग में आते हैं। क्षायिक सम्यग्दृष्टि है न। लड़ाई की प्रक्रिया बन्द हो और शुद्धोपयोग में आते हैं। उन्होंने अन्दर राग को कितना मार डाला होगा, इस बात का विचार यहाँ कर सके ऐसा विषय है। यहाँ शास्त्र पढ़-पढ़कर वह थक जाये, तो भी शुद्धोपयोग होता नहीं। लेकिन क्यों? इतनी ज्ञान की क्रिया करता है न? उनको तो कषाय की क्रिया चलती है। और वह भी अशुभोपयोग। लड़ाई का उपयोग तो अशुभउपयोग है। द्वेष और क्रोध। सामने कोई स्पर्धा करे ऐसा बलवान हो तो उपयोग थोड़ा तीव्र होकर भी चले। लेकिन लड़ाई बन्द करके बैठे, वहाँ शुद्धोपयोग में आते हैं।

उनको कितना अभ्यास होगा कि जिस कारण शुद्धोपयोग में आने में देर नहीं लगती और उन्होंने कितना रागरस को मारा होगा कि उनको उसका नाश होने में देर नहीं लगती। अत्यंत दृढ़, अंतर परिणामन कितना घनिष्ठ हो गया होगा कि जिन्होंने चारित्र अंगीकार करते ही केवलज्ञान प्राप्त किया! छठवें गुणस्थान में आये नहीं। मुनिदशा के व्यवहारचारित्र में वे परिणमित ही नहीं हुए। क्योंकि जब विधि की थी उस वक्त तो मुनिदशा नहीं आयी थी। उस वक्त तो अभी चतुर्थ गुणस्थान होता है, पंचम गुणस्थान होता है। प्रथम ध्यान करे तब, दीक्षा के पश्चात् जब प्रथम ध्यान करते हैं, तब सप्तम गुणस्थान आता है, तब भावलिङ्ग मुनिदशा कहने में आती है। बस! वहाँ-से श्रेणि लगा दी। छठवें गुणस्थान में विकल्प में आये तो बाहर में संयम का पालन करना, ऐसा प्रकार आये न? उस प्रकार में आये ही नहीं। अंतर में परिणति कितनी घनिष्ठ हो गयी होगी प्रथम-से ही! वह सब चरणानुयोग और करणानुयोगमें-से निकलता है। प्रथमानुयोगमें-से यह निकलता है तो, चरणानुयोग और करणानुयोग में निकले उसमें कोई प्रश्न नहीं रहता।

भरत चक्रवर्ती के उस प्रकरणमें-से शुद्धात्मा के अनुभव का विषय निकलता है, ऐसा सर्व के चारित्रमें-

से निकलता है तो करणानुयोगमें-से एवं चरणानुयोगमें-से न निकले, यह प्रश्न नहीं रहता। क्योंकि करणानुयोग में भी जो कर्म की व्यवस्था है, कर्म का फल है, फल भोगने के स्थान है, जो तीन लोक की रचना है, वहाँ-से लेकर सब करणानुयोग में आता है। और गुणस्थान अनुसार उस-उस कर्मबंधन के प्रकार, उसका उदय, उसकी स्थिति, उसका अनुभाग, उदीरणा, अपकर्षण, उपकर्षण, संक्रमण आदि जो कोई प्रकार आते हैं, उसमें जीव के परिणाम कैसे होते हैं? कब कितनी शुद्धि हो तब कैसे परिणाम होते हैं? अशुद्ध बड़े तब कैसे होते हैं? इस तरह अशुद्धि, शुद्धि सापेक्ष होने से, अशुद्ध स्वयं शुद्धि सापेक्ष होने-से, आत्मा की शुद्धि का प्रकरण उसमें आये बिना नहीं रहता। अतः करणानुयोग में भी आता है।

चरणानुयोग में तो आचरण का ही विषय है पूरा। बाह्याचरण मोक्षमार्गी जीव को चतुर्थ गुणस्थान में, पंचम गुणस्थान में, छठवें-सातवें गुणस्थान में कैसा होता है कि जब अंतरंग शुद्धि, आत्मस्थिति-स्थिरता कितनी वृद्धिगत हुई हो? उस वक्त किस प्रकार राग नष्ट होता है? राग का नष्ट होना है वह स्वरूपस्थिरतावशात् है। यह विषय आये बिना नहीं रहता।

व्रत अर्थात् रुकना। व्रत का मूल अर्थ होता है—रुकना। कहाँ रुकना? कि शुद्धात्मा में स्थिर होना उसे रुकना कहते हैं। और अशुद्धि में जाने-से रुकना, और शुद्धता में स्थिर होकर रुकना उसे व्रत कहने में आता है। ऐसा अंतरंग निश्चय शुद्ध व्रत होता है तब, उसके अनुकूल बाह्य भोग-उपभोग के साधनों का निमित्त नहीं होता। राग नहीं होता और राग का विषय नहीं होता, तब उसे व्यवहारव्रत ऐसा नाम दिया जाता है। वह निश्चयव्रत के सद्भाव में होता है। इत्यादि विषय चरणानुयोग में भी आत्मा और आत्मा की शुद्धता का विषय आये बिना नहीं रहता।

तो कहते हैं कि, 'चारों अनुयोगों के पढ़ने का

गुण...' है अथवा लाभ है 'तो आत्म-अनुभव प्राप्त करना है,...' स्वरूप में स्थिर होना, स्वरूप में झुकना, स्वरूप का लक्ष्य करना 'वह शास्त्र पढ़ने का लाभ है अर्थात् 'आत्म-अनुभव करना ही शास्त्राभ्यास का तात्पर्य है।' सारांश यह है। सर्व कथन का सार यह है ऐसा कहा। भले ही शास्त्र-कथन की शैली की अनेकविधता हो, वह विविधता कहाँ, कैसी, कैसे है उसका विद्वत्तापूर्ण ज्ञान भले ही न हो, उसका कोई प्रयोजन नहीं है। परन्तु एक आत्मप्राप्ति करने की कला हाथ लग गयी, ज्ञानकला हाथ लग गयी।

बनारसीदास कहते हैं कि मैं तो, मोक्षमार्ग में शिवमार्ग उसे कहा है, आत्म-कल्याण के मार्ग में केली

करते हुए जीव को मैं देखता हूँ और मैं तो उसको हाथ जोड़कर वंदन करता हूँ। 'करै कर जोडी बनारसी वंदन'। क्योंकि भगवान के मार्ग में शामिल हुआ जीव है, उसको वे भगवान ही देखते हैं। उसके परिणाम सहित उसे भगवान देखते हैं। जब कि स्वयं ज्ञानी हैं। ज्ञानी स्वयं जब इतने बहुमान से ज्ञानी को देखते हैं कि जिनेश्वर के लघुनंदन को मैं हाथ जोड़कर वंदन करता हूँ। तब मुमुक्षु को तो परमेश्वरबुद्धि हुए बिना रहे नहीं। यह उसकी स्थिति है। एक का बहुमान आये तब वह कहे उसमें-से उसे कुछ ग्रहण हो। नहीं तो कोई प्रकार से सूझे ऐसा नहीं है। यह परिस्थिति है।

दि. ४-२-१९८३, परमागमसार बोल-१६७,  
प्रवचन क्रमांक-६५७

#### विषय-मार्गदर्शन

आनंदकंद प्रभुके आस्वादन बिना अशुद्धभाव नहीं छूटते और अशुद्ध संस्कार छूटे बिना स्वरूप का अनुभव नहीं होता। रागसे एकताके संस्कार छूटे बिना शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं होता और शुद्धस्वरूप का अनुभव हुए बिना रागसे एकताके संस्कार नहीं छूटते। महिमावन्त प्रभुकी ऐसी महिमा भासित हुए बिना तुच्छता और पामरता के संस्कार नहीं छूटते और तुच्छता तथा पामरता के संस्कार छूटे बिना महिमावन्त प्रभुकी महिमा नहीं होती। अतः अशुद्धताका व्यय एवम् शुद्धताकी उत्पत्तिका एक ही काल है। १६७.

परमागमसार, पृष्ठ-३३, १६७ वचनमृत है। यह वचनमृत कलशटीका, कलश-२९ पर के प्रवचनमें-से है। कलश का विषय है... २९ कलश। टीका में तो विस्तार है। सादा सामान्य अर्थ ऐसा है कि रागादि भाव छूटे नहीं, उतने में तो अनुभव हो गया। ऐसा विषय है। सादा अर्थ उसका ऐसा है।

मुमुक्षु :— दोनों का एक काल है, ऐसा ?

पूज्य भाईश्री :— एक काल है।

'यह परभावके त्यागके दृष्टान्त...' श्लोकार्थ। 'यह परभावके त्यागके दृष्टान्तकी दृष्टि, पुरानी न हो इसप्रकार...' दूसरा समय हो तो पुरानी हो न। ऐसा। 'पुरानी न हो इसप्रकार अत्यन्त वेगसे जब तक प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, उससे पूर्व ही तत्काल सकल अन्यभावोंसे रहित स्वयं ही यह अनुभूति

तो प्रगट हो गई। 'आविर्भाव' आविर्भाव हुआ। विशेषपने हुआ उसे 'बभूव' कहा। आविर्भाव, 'आविर्भाव' परभाव का त्याग हुआ कि वहाँ तो अनुभूति हो गई ऐसा कहते हैं। स्वामीत्व उठ गया, ऐसा।

वहाँ दृष्टान्त दिया है धोबी के वस्त्र का। धोबी के यहाँ-से कोई दूसरे का, उस ही मील का ऐसा ही वस्त्र, एक मील, एक ही गोटवाला, एक ही रंग का। सफेद हो तो सफेद, ऐसा ही एक ही मील का वस्त्र हो और गलती से एक का दूसरे के यहाँ आ गया हो, सज्जन मनुष्य उसका चिह्न देखता है कि धोबी मेरा चिह्न ऐसा नहीं करता। मेरे वस्त्र पर जो मेरे नाम का चिह्न करता है वह तो इस पर नहीं है। वस्त्र उस ही मील का वैसा ही है, फिर भी मेरा नहीं है। ऐसा जो ज्ञान होता है कि यह मेरा नहीं, वहाँ स्वामीत्व खत्म हो गया उसका।

इसप्रकार यहाँ परद्रव्य और परभाव मेरे नहीं है, ऐसा जहाँ ज्ञान में आता है वहाँ अनुभूति उत्पन्न हो जाती है ऐसा कहते हैं। उस-ही समय। यह विषय है। कलश का जो विषय है वह इसप्रकार है कि परभाव का त्याग और स्वभाव का ग्रहण एक ही काल में होता है, आगेपीछे होता है ऐसा नहीं। अंधकार का नाश और प्रकाश का उत्पाद एक ही काल में होता है। बोलने में ऐसा आता है कि पहले अंधकार था वह गया और प्रकाश हुआ। क्योंकि अंधकार तो था और प्रकाश नहीं था। तो बोलने में क्रम पड़ता है। और उस पर-से कोई ऐसा समझे कि पहले अंधकार जाता है, फिर प्रकाश आ सकता है, ऐसा नहीं है। अंधकार का जाना और प्रकाश का होना, एक ही समय में है। यह कलश का विषय है।

अब, गुरुदेवश्री की जो शैली उसमें अनुभवपूर्ण विशेषता है ऐसी बात उस प्रवचन में आयी है इसलिये यहाँ अलग से चयन करके ली गई है। 'आनंदकंद प्रभुके आस्वादन बिना अशुद्धभाव नहीं छूटते....' क्या कहते हैं? कि जगत में अनेक जीव

अशुद्धभाव, दोषभाव उसकी मलिनता को जानकर बुद्धि से भी, अनुभव से भी उसकी मलिनता जानकर छोड़ना चाहते हैं कि ऐसे दोषित परिणाम मुझे न हो। जगत में अनेक जीव सन्मार्ग को प्राप्त हुए बिना भी, ऐसा। सत्यमार्ग को प्राप्त हुए बिना भी ऐसी तो इच्छा करते हैं कि हिंसा न हो, असत्य न हो, चोरी न हो, अनेक प्रकार के राग-द्वेष-मोह के जो विविध दोषित परिणाम हैं वह न हो, ऐसी इच्छा करते हैं तो भी वह अशुद्धभाव छूटते नहीं, क्योंकि... ऐसा लेना है। आनंदरसकंद प्रभु का आस्वाद आया नहीं। ऐसा है। अस्ति में नास्ति है। वस्तु रिक्त नहीं रहती। जो पर्याय है उसमें दोषित भाव है उसका नाश हो तो क्या आता है? और क्या आता है तो नाश होता है? बस! इतनी बात इसके अन्दर है।

अतः ऐसा कहते हैं कि कोई जीव स्वयं के विषय में ऐसा विचार करता हो कि मुझे राग, द्वेष, अज्ञान, मिथ्यात्व नहीं चाहिये, मुझे ऐसा न हो, ऐसी यदि कोई विचारणा हो, कोई जीव के चित्त में ऐसी विचारणा हो उसे यह जानना आवश्यक है कि आनंद का रसकंद आत्मा है, प्रभु आत्मा आनंद का रसकंद है उसके स्वाद की मौजूदगी में वह छूटेगा। उसका वेदन होगा, उसका आस्वाद आयेगा, परिणाम में ऐसी अस्ति उत्पन्न होगी तब वह छूटेगा। तब तक ऐसी अशुद्धता सम्यक् प्रकार से अर्थात् वास्तविकपने छूटनी असंभवित है। भले ही कोई जीवों को बाह्य त्याग के पाँच इन्द्रिय के विषयों का बाह्य त्याग होनेपर उन विषयाश्रित परिणाम प्रगटपने देखने में नहीं आते, फिर भी वह दोष उसको छूट गया है ऐसा कह नहीं सकते। 'आनंदरसकंद प्रभुके आस्वाद बिना...' ऐसा है। क्यों? कि वहाँ वह कषाय मंदपने वर्तता है, वह-वह भाव मंदपने प्रवर्तते हैं। उस मंदतामें-से उग्रता हो जाती है। क्योंकि अभाव नहीं हुआ है। ऐसा।

मूल साबूत है, जिस वनस्पति का मूल साबूत है, बलवान है उसे पनपने में देर नहीं लगती। कुछ ऐसे

पीपल जैसे वृक्ष ऐसे होते हैं कि दिवार में ऊगते हैं, दिवार में ऊगते हैं। पीपल का वृक्ष खास करके ऐसा होता है। पीपल का वृक्ष ऐसा है, उसका मूल बहुत गहराई में होता है। दिवार में ऊगता है। उसे खाद और पानी कुछ नहीं मिलता हो। फिर भी एक बार उसके बीजमें-से उसका मूल ऐसा हो जाता है। भले दो बालिशत का पीपल, एक, डेढ़, दो बालिशत का पीपल हुआ हो और दिवारमें-से उसे काटे नहीं, मूलमें-से उसे न काटे। क्योंकि साथ-साथ दिवार तोड़नी पड़े। और ऊपर-ऊपर से तोड़ दे, काट ले तो पुनः उसे पत्ते ऊगते हैं, वह पनपता है। क्योंकि मूल साबूत है।

जैनदर्शन है वह, दोष को मूलमें-से उसका नाश करने की उसकी पद्धति, अनुभवपूर्ण रूप से नाश करके कहता है, ऐसा कहते हैं। उसका यह सिद्धांत रखा। गुरुदेवश्री की भाषा में इस जगह बहुत सुन्दर ध्वनि आया है कि, भाई! 'आनंदरसकंद प्रभुके आस्वादन बिना...' अन्दर जो आनंदअमृत भरा है, उस अमृत का आस्वाद आये बिना तुझे, यह जो अशुद्धतारूप दोष है, उस दोष का जो विष है, उसका स्वाद तुझे विषरूप से नहीं पहचानने में आयेगा। ऐसा है। आमने-सामने है। आत्मा स्वरूप जो आनंदअमृत है, उसका आस्वाद जो आनंदअमृत है उसका अनुभव होता है तब जीव को सम्यक् प्रकार से मूलमें-से दोष का क्षय होता है। ऐसी स्थिति में परिपूर्ण दोष नाश नहीं हुए हो और अल्प दोष रहा हो उसका स्वरूप उसके ज्ञान में आता है।

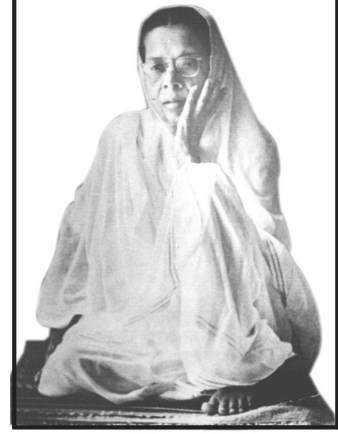
दोष होता है उसकी अवस्था में। छद्मस्थ जीव को रागादि परिणाम चारित्रमोहके उसकी अवस्था में होते हैं। चारित्रमोह भी होता है, चारित्र का राग भी होता है, चारित्र का द्वेष भी होता है। चारित्र में नीचे के चौथे-पाँचवे गुणस्थान में आर्त एवं रौद्र ध्यान पर्यंत के परिणाम होते हैं। परन्तु उसे ज्ञानमय परिणाम (है)। ज्ञानी के परिणाम ज्ञानमय क्यों कहे? कि उसे वहाँ वह जानता है

कि यह विष है। उसे ऐसा ज्ञान वर्तता है। ज्ञानी को ऐसा ज्ञान वर्तता है कि यह विष है। अतः उसके परिणाम विषमय नहीं, अपितु ज्ञानमय है ऐसा कहा। यह विशेषता है। और वह उसे विष क्यों जानता है? कि अन्दर में आनंदरसकंद, आनंदअमृत का आस्वाद वेदन में आता है, प्रत्यक्षपने वेदन में आता है। ऐसी जो ज्ञानधारा है उसमें आनंदअमृत की धारा है। वह ज्ञानधारा है, वह अमृतधारा है, वह सुधाधारा है। अनुभवप्रकाश में ऐसा शब्दप्रयोग है। वह सुधाधारा है, वह चैतन्यधारा है, वह आत्मधारा है, वह प्रत्यक्ष है। वह प्रत्यक्ष है अर्थात् उसे मिलान करने के लिये विकल्प भी नहीं करना पड़ता। जो कोई कषायकण उत्पन्न होता है उसमें उसे विष का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

इसलिये ऐसा कहते हैं कि अन्य कोई भी प्रकार से 'अशुद्धभाव नहीं छूटते...' सिवाय जीव को आनंदरसकंद प्रभु का आस्वाद आवे। वह नहीं आये, तब तक उसके बिना अशुद्धभाव कभी नहीं छूटते। भले त्यागी होकर जंगल में जाये और वहाँ जाकर भी शिर्षासन करके तपस्या करे। ये जाते हैं न? अघोरी साधु नग्न होते हैं। जंगल में जाते हैं, पंचाग्नि तप तपते हैं। लेकिन यदि गुस्सा आया हो तो उसकी आँख में देख नहीं सकते। लाल-लाल आँखें। यह सब देखा है, हाँ! हमारे बचपन का छोटा-सा गाँव-राणपुर। घुमते-घुमते एक-दो आये थे। गर्मी के मौसम में ठीक ग्यारह बजे कड़ी धूप में तप शुरू करे। कड़ी धूप की शुरूआत हो, मिट्टी में पैर जलना शुरू हो तब उसकी तपश्चर्या शुरू होती है। फिर शाम को, रात्रि में आहार करे। वह धूप साढे चार-पाँच बजने के बाद खत्म होती है। कड़ी धूप में चारों ओर (अग्नि का) गोल आकार बनाते हैं, अग्नि जलाये और शिर्षासन में रहे, एक पैर पर खड़े रहे, ऊलटे सर रहे, पद्मासन में रहे। भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से तपश्चर्या करते हैं।

(अनुसंधान पृष्ठ सं.७ पर...)

**पूज्य बहिनश्री की वीडियो तत्वचर्चा**  
**मंगल वाणी-सी.डी.६ A**



मुमुक्षु :- हे पूज्य माताजी! पूज्य गुरुदेव की बात धारणा ज्ञान में आयी है, फिर भी अंतर पुरुषार्थ शुरु नहीं होता उसका क्या कारण है? अथवा मुमुक्षुजीव को धारणा ज्ञान में तत्त्व समझ में आने के बाद पुरुषार्थ हेतु किसप्रकार अंतर में कार्य करना चाहिये, यह आप कृपा करके समझाइये।

समाधान :- पुरुषार्थ नहीं चलता इसका कारण स्वयं खुद का है। गुरुदेवने तो बहुत समझाया है। धारणाज्ञान किया लेकिन अंतरमेंसे खुद को लगना चाहिये न। अंतर में विचार कर लिया, धारणा कर ली लेकिन निर्णय अंतरमेंसे यथार्थ आना चाहिये। खुद करता नहीं, स्वयं के पुरुषार्थ की मन्दता है। अपने पुरुषार्थ की मन्दता (है)। आत्मा की इतनी (लगन) लगी नहीं है कि मुझे आत्मा ही चाहिये, दूसरा कुछ नहीं चाहिये। इतनी लगनी अंतरसे लगनी चाहिये। आत्मा ही सर्वस्व है, ये विभाव में कहीं सुख या शान्ति नहीं है, सुख-शान्ति हो तो एक आत्मा में है। ऐसी अंतर की जिज्ञासा, लगनी आदि सब लगना चाहिये तो होता है। यह किये बिना होता नहीं। उसका विचार करना चाहिये, नक्की करना चाहिये कि यही आत्मा है। यह ज्ञानस्वभाव है वही आत्मा है। इसके सिवा दूसरा कुछ भी अपना स्वरूप नहीं है। एक ज्ञायक। ज्ञायक के अन्दर अनन्त गुण भरे हैं। अनन्त शक्तियाँ भरी हैं। सब आत्मा में है। बाहर कहीं भी नहीं है। जीव अनन्त कालसे सब बाहर ढूँढ रहा है कि बाहरसे जैसे ज्ञान आयेगा, बाहरसे सुख आयेगा। सब बाहर ढूँढता है। बाहर में कुछ नहीं है। गुरु मार्ग बताते हैं। वे निमित्त बनते हैं, लेकिन पुरुषार्थ तो स्वयं को करना है। उपादान स्वयं का तैयार हो तो निमित्त तो तैयार ही है। उपादान की क्षति है इसलिये नहीं होता। निमित्त तो गुरुदेव का प्रबल था, उनकी वाणी जोरदार (थी)। अन्दरसे भेदज्ञान हो ऐसी वाणी थी। चारों ओरसे स्पष्ट करते थे। लेकिन स्वयं के उपादान की क्षति है इसलिये वह नहीं होता। उपादान की तैयारी स्वयं करनी है। करे तो होवे ऐसा है। अनन्त जीवोंने किया है और स्वयं का स्वभाव है, नहीं हो सके ऐसा नहीं है। दुर्लभ कहा जाता है लेकिन अपना स्वभाव है इसलिये सुलभ है, कर सके ऐसा है।

मुमुक्षु :- श्रीमद्जी में आता है कि ज्ञानी की आज्ञा का आराधन वह कर सकता है कि जो एक निष्ठासे तन, मन और धन की आसक्ति का त्यागकर उनकी भक्ति में जुड़े। तन, मन और धन इसमें क्या कहना चाहते हैं?

समाधान :- गुरु की आज्ञा का आराधन (अर्थात्) गुरु जो कहते हैं, गुरु जो मार्ग दर्शाते हैं उस मार्गपर स्वयं गुरु की आज्ञा का आराधन करे। गुरु कहते हैं कि तेरा आत्मा भिन्न है। तू अंतर में देख, उसमें ही सब है, बाहर कुछ नहीं है। बारंबार गुरुदेव कहते थे कि तू आत्मा भिन्न, यह तेरा स्वरूप नहीं है। शास्त्र में आता है, गलतीसे कपड़ा भूल जाता है तो बारंबार उसे कहने में आता है तब वह समझता है कि यह मेरा वस्त्र नहीं है, गलतीसे आ गया है। वैसे गुरु बारंबार कहते हैं कि तू भिन्न ज्ञायक आत्मा है, बारंबार कहते हैं। लेकिन खुद अन्दरसे समझे तो होता है। लेकिन गुरु की आज्ञा का आराधन तनसे, शरीर पर भी लक्ष्य नहीं है। तनसे, मनसे। मनसे भी गुरु जो कहते हैं वह बराबर है। और वचनसे गुरु कहें वह बराबर है। तन, मन, धन। धन का मुझे क्या काम है? गुरु की आज्ञा में सब अर्पण है। ऐसे परिग्रह की

ममता भी मुझे कुछ नहीं चाहिये। जो गुरु कहते हैं वह बराबर है। गुरु की आज्ञा का आराधन। सबसे छूट जाये। सबसे परपदार्थ के लोभसे छूट जाये, हरजगहसे छूट जा, ऐसा गुरु कहते हैं। इसलिये अंतरसे सबसे छूट जा। गुरु को अर्पण (करे तो) गुरु को कहाँ धन चाहिये? गुरु को तो धन नहीं चाहिये। लेकिन तन, मन और धनमेंसे अपना लोभ छोड़ा दे। ये परद्रव्य मेरा स्वरूप नहीं है, यह धन मेरा स्वरूप नहीं है, कोई मेरा स्वरूप नहीं है। मुझे कुछ नहीं चाहिये। गुरु कहते हैं कि तेरा कुछ भी नहीं है। तू सबकुछ गुरु को अर्पण कर। ऐसी उसे भावना (रहती है)। गुरु को तो कुछ नहीं चाहिये।

गुरु कहते हैं, शरीर भी तेरा नहीं है। शरीर भी परद्रव्य है। तो शरीरपरसे राग छोड़ दे। सबका राग छोड़कर, तू तो भिन्न आत्मा है। ऐसा गुरु दर्शाते हैं। वहाँ उसे किसी भी प्रकार का आग्रह या कोई पकड़ नहीं रहती, अन्दरसे छूट जाती है। गुरु की आज्ञा का आराधन। गुरु जो कहे वह सब उसे प्रमाण होता है। अंतर में रुचि में सब बैठ जाता है। बाहरसे छोड़ दे ऐसा उसका अर्थ नहीं है, अन्दरसे उसे ममता छूट जाती है।

मुमुक्षु :- माताजी! गुरु की निश्चय-आज्ञा तो तू तेरे आत्मा का आश्रय कर, लेकिन उसके साथ व्यवहार-आज्ञा भी इसके साथ ले लेनी चाहिये?

समाधान :- व्यवहार-आज्ञा भी ले लेनी चाहिये। गुरु एक शब्द कहे तो वह शब्द स्वयं बराबर ग्रहण कर लेता है। गुरु जो कहे वह सब स्वीकार कर ले।

मुमुक्षु :- उसमें भी एक निष्ठासे तन, मन और धनसे उनकी आज्ञा संमत होनी चाहिये?

समाधान :- तन, मन और धनसे सब प्रकारसे। गुरु तो विवेकी होते हैं, बिना सोचे कुछ कहते नहीं। वे तो विवेकी होते हैं। तुझे उसमें विकल्प नहीं करना है। गुरु तो विवेकी ही होते हैं। वे बराबर समझकर बोलते हैं। तुझे तर्क करने की आवश्यकता नहीं है। जो शब्द वह कहे उसे तू प्रमाण करना। वे तो विवेकी होते हैं।

मुमुक्षु :- व्यवहार की कोई भी बात हो तो भी इस जीव को कहीं भी अपनी बुद्धि नहीं चलानी है।

समाधान :- अपनी बुद्धि नहीं चलानी। गुरु विवेकी हैं, सब कुछ समझकर कहते होंगे। अपनी पात्रता, तेरी पात्रता ऐसी होगी इसलिये तुझे ऐसा कहते होंगे, ऐसा अर्थ करना कि मेरी पात्रता अनुसार कहते हैं।

मुमुक्षु :- माताजी! आशंका करके भी पूछता हूँ कि कहीं किसी जगह क्षयोपशमसे भूल हो और अपनी बुद्धि में लगे कि यह बराबर नहीं है, तो भी उनकी बात का स्वीकार करने में हित समाया है?

समाधान :- उसका हित ही है। गुरु की भूल निकालनी वह तो बराबर नहीं है। अप्रयोजनभूत बात में या इसका ऐसा है, ऐसा करना वह योग्य नहीं है। प्रयोजनभूत बात तो, गुरु तो मोक्षमार्ग में चले हैं, उसमें प्रयोजनभूत में कोई फ़र्क नहीं है। क्षयोपशम में कहीं भूल-फेरफार हो तो वह खुद स्वीकार नहीं करता, आगे कुछ करने जैसा नहीं है। गुरु कहे वह प्रमाण है।

मुमुक्षु :- गुरु जो कहे वह उसे संमत है।

समाधान :- गुरु कहे वह प्रमाण है।

मुमुक्षु :- उसमें उसे नुकसान नहीं होनेवाला है।

समाधान :- उसमें उसे नुकसान नहीं होगा। पहले में नुकसान होगा। गुरु की भूल है ऐसा देखता रहेगा तो उसकी भूल है। उसको खुद को नुकसान होता है। तू कहाँ और गुरु कहाँ है। तेरा तो एक क्षयोपशम मात्र है, गुरु तो मुक्ति के

मार्गपर चले हैं। तेरे क्षयोपशम को मुख्य करके तेरा बड़प्पन करता है तो तुझे नुकसान होता है। क्षयोपशम ज्ञान को भी गौण कर देना है।

मुमुक्षु :- बाहरसे ऐसा लगे कि कोई बार उनका स्वीकार करना चाहिये, कोई बार उनसे भूल होती हो तो खुद को उन्हें बताना चाहिये कि ऐसा नहीं होना चाहिये। ऐसा जो विकल्प आता है, आपको कहता हूँ, लेकिन आप कहते हो कि जो गुरु कहते हैं उसे स्वीकार करने में ही उसका हित रहा है।

समाधान :- खुद का हित तो उसमें ही रहा है। गुरु कहे वह स्वीकार्य है। गुरु के आगे ऐसा कहना कि इसका ऐसा है, वह कुछ योग्य नहीं है। कुन्दकुन्दाचार्य जैसे कहते हैं कि यह प्रमाण करना, स्वीकार करना। इसमें कहीं कुछ शब्द की भूल हो तो दोष ग्रहण मत करना। छल ग्रहण मत करना। आचार्य जैसे (ऐसा कहते हैं)। कहाँ पहुँचे हैं, वे कहते हैं कि कहीं छल ग्रहण मत करना। तुझे नुकसान होगा। कहाँ आचार्य पहुँचे हैं, कहाँ गुरु पहुँचे हैं, उन्हे भूल दिखानेवाला तू कौन समर्थ है? गुरुसे बड़े जो हों वह उन्हें कह सकते हैं, तू कहने के लायक नहीं है।

मुमुक्षु :- खुद का माप ही जूठा है।

समाधान :- जूठा है।

मुमुक्षु :- ऐसे वीतराग मार्ग में ऐसा परम विवेक तो खास आवश्यक है।

समाधान :- परम विवेक होना चाहिये।

मुमुक्षु :- दूसरा बहुत कुछ आता हो लेकिन इसप्रकार का यदि विवेक नहीं हो तो..

समाधान :- तो स्वच्छन्द है, नुकसान का कारण है।

मुमुक्षु :- आप तो बराबर फरमाते हो कि तुम ज्ञायक हो, अकर्ता हो। कल प्रवचन में आया कि कर्ता, कर्म, करण सब तुम ही हो। अनादिकालसे संसार में परिभ्रमण करता है उसका कारण यह वैभाविक गुण अथवा वैभाविक शक्ति जो जीव में है वह कारण है? और यदि वह कारण है तो आगम में वैभाविक शक्ति का अत्यंत विस्तारसे कथन क्यों नहीं है?

समाधान :- उसका कारण वैभाविक शक्ति है। उसकी खुद की ऐसे विभावरूप परिणमने की जीव की ऐसी योग्यता है। इसलिये विभावरूप कर्ता, कर्म, करण (होकर) विभावरूप परिणमता है। विभावगुण का वर्णन पंचाध्यायी में आता है, और कहीं नहीं आता है। वैभाविक शक्ति का। लेकिन उसकी योग्यता के बिना तो होता नहीं। उसकी वैभाविकरूप परिणमने की योग्यता है इसलिये होता है। नहीं तो जो जिसका स्वभाव है उस स्वभावमेंसे विभाव कैसे होता है? उसका कारण परद्रव्य तो कुछ कर नहीं सकता। एक द्रव्य यदि दूसरे द्रव्य को कुछ कर सकता है तो द्रव्य-चैतन्यद्रव्य पराधीन हो जाय। पराधीन हो जाय तो वह मार्ग दे तब होगा और स्वयं पुरुषार्थ कर सके ही नहीं। लेकिन जीव सब तरहसे स्वतन्त्र है। विभाव में स्वतन्त्र और स्वभाव में स्वतन्त्र। विभाव होता है उसमें कर्म निमित्तमात्र है। खुद की उस रूप परिणमने की योग्यता के बिना कोई जबरन परिणमन नहीं करवा सकता।

स्फटिक स्वभावसे निर्मल है। वह निर्मल है तो उसमें जो लाल, पीले प्रतिबिंब फूल के निमित्तसे झलकते हैं वह स्फटिक की योग्यता है। उसमें लाल, पीले फूल जबरन प्रतिबिंब नहीं करवाते। स्फटिक स्वयं निवड है तो भी उसमें ऐसे प्रतिबिंब झलकने की योग्यता है इसलिये होते हैं, कोई करता नहीं है।

ऐसे चैतन्य में ऐसी योग्यता है। उसे वैभाविक गुण कहो, ऐसी योग्यता कहो, जो भी कहो। वैभाविक शक्ति की व्याख्या पंचाध्यायी में आती है, और कहीं नहीं आती।

मुमुक्षु :- वैभाविक शक्ति इतना बड़ा काम करती है कि इस संसार में यह जीव इस शक्ति के कारण ही खुद को भूलकर भटकता है। उसका विवेचन दूसरे आगमों में स्पष्टरूपसे अत्यंत विस्ताररूपसे नहीं है उसका क्या कारण है?

समाधान :- अनादि कालसे यह जीव परिभ्रमण कर रहा है, लेकिन आचार्यदेव कहते हैं कि... परिभ्रमण कर रहा है, आचार्यदेव को उसकी कोई महत्ता नहीं लगी है, उन्हें स्वभाव की महत्ता लगी है। स्वभाव की व्याख्या की है। उसमें विभाव क्यों होता है? उसकी योग्यता उसके साथ आ जाती है। आचार्यदेव को उसका विस्तार करने की कोई महत्ता नहीं लगी है इसलिये विस्तार नहीं आता है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय स्वतंत्र है, यह बात की। उसमें यह आ जाता है। इसलिये उसका कोई प्रयोजन नहीं लगा है, ना ही उसकी महत्ता लगी है। ऐसा उसका अर्थ है।

मुमुक्षु :- स्वभाव के सामने विभाव की महत्ता नहीं लगी, इसलिये वर्णन नहीं किया है।

समाधान :- इसलिये उसका वर्णन नहीं आता।

मुमुक्षु :- है तो अनादि का।

समाधान :- है तो अनादि का। लेकिन आचार्यदेव कहते हैं कि तू खुद को पहचान तो वह छूट जायेगा। तू स्वयं को पहचान। तेरा परिभ्रमण हो रहा है। तेरे कारण, तेरी भूलसे होता है इसलिये तू बदल दे। भूल होने का कारण क्या? आचार्यदेव उसका विस्तार नहीं करते हैं। तू ही कारण है। तेरी भूल के कारण तू भटका है।

मुमुक्षु :- उसके विरोध में ऐसा भी कहते हैं कि तेरे में ऐसी कोई शक्ति ही नहीं है कि जिस कारणसे तुझे विभावरूप परिणमन करना पड़े। तेरे में ऐसा गुण ही नहीं है कि तुझे विभावरूप परिणमना पड़े। लेकिन विभावरूप परिणमन तो अनादिसे संसार में चल ही रहा है।

समाधान :- चल तो रहा ही है। उसमें ऐसा कोई गुण नहीं है, लेकिन तेरी योग्यता के कारण ही तू परिणमता है। उसका अर्थ यह है कि योग्यता नहीं हो तो कर्म जबरन परिणमन नहीं करवाता है। यदि कर्म परिणमन करवाता हो तो किसीका मोक्ष ही नहीं होता। जीव पराधीन हो गया। कर्म करे तब होगा, कर्म मार्ग दे और कर्म मोक्ष दे, सब कर्मसे हुआ। फिर अपना कारण तो रहा नहीं। पूरा मोक्ष पराधीन हो गया। ऐसा तो होता नहीं। स्वयं पुरुषार्थ करे। दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना तू तेरे पुरुषार्थसे कर। तेरी भूल हो उसका प्रायश्चित् कर, प्रत्याख्यान कर वह सब व्यवहार व्यर्थ हो जाता है। क्योंकि कर्म ही सब करता है। फिर तुझे कहाँ पुरुषार्थ करना रहता है। इसलिये तू पुरुषार्थ कर, तू आराधन कर, तू उपदेश सुन, तू अन्दरसे बदल जा, ऐसा सब कहने में आता है उसका अर्थ यह होता है कि तेरी भूलसे तू भटका है। निमित्त कर देता हो तो खुद को कुछ करना ही नहीं रहता।

मुमुक्षु :- आपका कहने का तात्पर्य यह है कि त्रिकाली सामर्थ्य नहीं होनेपर भी पर्याय में योग्यता तो खुद की ही है।

समाधान :- खुद की ही योग्यता है। अपनी योग्यता के बिना होता नहीं, खुद पलटता है, स्वयं करता है। निमित्तमात्र है। निमित्त करता हो तो बिलकूल पराधीन हो गया। अपनी कोई योग्यता ही नहीं हो तो बिलकूल पराधीन (हो गया)। तो फिर आराधना करनी, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना, खुद के आधीन कुछ रहता ही नहीं। सबकुछ कर्म करे तब होगा। तो उपदेश दिया जाता है कि तू आराधना कर, सम्यग्दर्शन प्राप्त कर, चारित्र प्रगट कर, सब कहने में आता है। पूरा उपदेश निष्फल है, यदि खुद नहीं कर सकता हो तो।



करना, और न दुविधामें पड़ना, कदाचित् आपके कहे अनुसार अहंता आड़े आती हो तो यथाशक्ति उसका रोध करना, और फिर भी वह दूर न होती हो तो उसे ईश्वरार्पण कर देना; तथापि दीनता न आने देना। क्या होगा? ऐसा विचार नहीं करना, और जो हो सो करते रहना। अधिक उधेड़-बुन करनेका प्रयत्न नहीं करना। अल्प भी भय नहीं रखना, उपाधिके लिये भविष्यके एक पलकी भी चिन्ता नहीं करना, चिन्ता करनेका जो अभ्यास हो गया है, उसे विस्मरण करते रहना, तभी ईश्वर प्रसन्न होगा; और तभी परमभक्ति पानेका फल है; तभी हमारा-आपका संयोग हुआ योग्य है। और उपाधिमें क्या होता है उसे हम आगे चलकर देख लेंगे। इसका अर्थ बहुत गंभीर है।

सर्वात्मा हरि समर्थ है। आप और महा पुरुषोंकी कृपासे निर्बल मति कम रहती है। आपके उपाधियोगके सम्बन्धमें यद्यपि ध्यान रहा करता है, परन्तु जो कुछ सत्ता है वह उस सर्वात्माके हाथ है। और वह सत्ता निरपेक्ष, निराकांक्ष ज्ञानीको ही प्राप्त होती है। जब तक उस सर्वात्मा हरिकी इच्छा जैसी हो उसी प्रकार ज्ञानी भी चले यह आज्ञाकारी धर्म है, इत्यादि बहुतसी बातें हैं। शब्दोंमें लिखी नहीं जा सकतीं, और समागमके सिवाय यह बात करनेका अन्य कोई उपाय हाथमें नहीं है, इसलिये जब ईश्वरेच्छा होगी तब यह बात करेंगे।

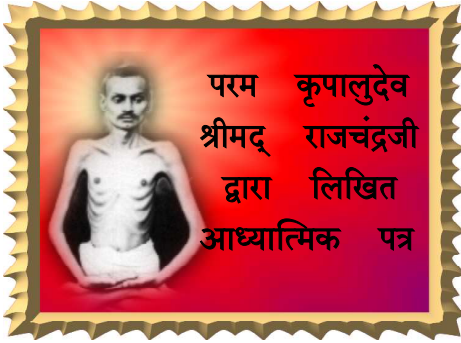
ऊपर जो उपाधिमें से अहंत्व दूर करनेके वचन लिखे हैं, उन पर आप कुछ समय विचार करेंगे त्यों ही वैसी दशा हो जायेगी ऐसी आपकी मनोवृत्ति है; और ऐसी पागल शिक्षा लिखनेकी सर्वात्मा हरिकी इच्छा होनेसे मैंने आपको लिखी है, इसलिये यथासंभव इसे अपनायें। पुनः पुनः आपसे अनुरोध है कि उपाधिमें आप यथासंभव निःशंकतासे रहकर उद्यम करें। क्या होगा? यह विचार छोड़ दे।

इससे विशेष स्पष्ट बात लिखनेकी योग्यता अभी मुझे देनेका अनुग्रह ईश्वरने नहीं किया है, और उसका कारण मेरी वैसी अधीन भक्ति नहीं है। आप सर्वथा निर्भय रहें ऐसी मेरी पुनः पुनः विनती है। इसके सिवाय मैं और कुछ लिखने योग्य नहीं हूँ। इस विषयमें समागममें हम बातचीत करेंगे। आप किसी तरह खिन्न न हों। यह खाली धीरज देनेके लिये ही सम्मति नहीं दी है, परन्तु जैसी अंतरमें स्फुरित हुई वैसी सम्मति दी है। अधिक लिखा नहीं जा सकता, परन्तु आपको आकुल नहीं रहना चाहिये, इस विनतीको वारंवार मानिये। बाकी हम तो निर्बल हैं। जरूर मानिये कि हम निर्बल हैं; परन्तु उपर लिखी हुई सम्मति सबल है; जैसी-तैसी नहीं है; परन्तु सच्ची है। आपके लिये यही मार्ग योग्य है।

आप ज्ञानकथा लिखियेगा। 'प्रबोधशतक'अभी तो भाई रेवाशंकर पढ़ते हैं। रविवार तक वापिस भेजना सम्भव होगा तो वापिस भेजूंगा, नहीं तो रखनके बारेमें लिखूंगा, और ऐसा होनेपर भी उसके मालिककी ओर से कुछ जल्दी हो तो लिखियेगा, तो भेज दूंगा।

आपके सभी प्रश्नोंके यथेच्छ उत्तर उपाधियोगके कारण अपनी पूर्ण इच्छासे नहीं लिख सका हूँ; परन्तु आप मेरे अंतरको समझ लेंगे ऐसी मुझे निःशंकता है।

लि. आज्ञाकारी रायचंद



२१७

परम पूज्य,

बंबई, माघ सुदी, १९४७

आपके सहज वांचनके उपयोगार्थ आपके प्रश्नोंके उत्तरवाला पत्र इसके साथ भेज रहा हूँ।

परमात्मामें परम स्नेह चाहे जिस विकट मार्गसे होता हो तो भी करना योग्य ही है। सरल मार्ग मिलनेपर भी उपाधिके कारण तन्मय भक्ति नहीं रहती, और एकतार स्नेह उमड़ता नहीं है। इसलिये

खेद रहा करता है और वनवासकी वारंवार इच्छा हुआ करती है। यद्यपि वैराग्य तो ऐसा रहता है कि प्रायः आत्माके घर और वनमें कोई भेद नहीं लगता; परन्तु उपाधिके प्रसंगके कारण उसमें उपयोग रखनेकी वारंवार जरूरत रहा करती है, कि जिससे परम स्नेहपर उस समय आवरण लाना पड़ता है, और ऐसा परम स्नेह और अनन्य प्रेमभक्ति आये बिना देहत्याग करनेकी इच्छा नहीं होती। कदाचित् सर्वात्माकी ऐसी ही इच्छा होगी तो चाहे जैसी दीनतासे भी उस इच्छाको बदलेंगे। परन्तु प्रेमभक्तिका पूर्ण लय आये बिना देहत्याग नहीं किया जा सकेगा ऐसा लगता है, और वारंवार यही रटन रहनेसे 'वनमे जायें' 'वनमे जायें' ऐसा मनमें हो आता है। आपका निरन्तर सत्संग हो तो हमें घर भी वनवास ही है।

श्रीमद् भागवतमें गोपांगनाकी जैसी प्रेमभक्तिका वर्णन है, ऐसी प्रेमभक्ति इस कलिकालमें प्राप्त होनी दुर्लभ है, ऐसा यद्यपि सामान्य लक्ष्य है, तथापि कालिकालमें निश्चल मतिसे यही लय लगे तो परमात्मा अनुग्रह करके शीघ्र यह भक्ति प्रदान करता है।

श्रीमद् भागवतमें जडभरतजीकी सुंदर आख्यायिका दी है। यह दशा वारंवार याद आती है और ऐसी उन्मत्तता परमात्मप्राप्तिका परम द्वार है। यह दशा विदेह थी। भरतजीको हरिणके संगसे जन्मकी वृद्धि हुई थी और इसी कारणसे वे जडभरतके जन्ममें असंग रहे थे। ऐसे कारणोंसे मुझे भी असंगता बहुत ही याद आती है, और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असंगताके बिना परम दुःख होता है। यम अंतकालमें प्राणीको दुःखदायक नहीं लगता होगा, परन्तु हमें संग दुःखदायक लगता है। यों अंतवृत्तियाँ बहुतसी हैं कि जो एक ही प्रवाहकी हैं। लिखी नहीं जाती; रहा नहीं जाता; और आपका वियोग रहा करता है। कोई सुगम उपाय नहीं मिलता। उदय कर्म भोगते हुए दीनता अनुकूल नहीं है। भविष्यके एक क्षणका भी प्रायः विचार भी नहीं रहता।

'सत्-सत्' इसकी रटन है। और सत्का साधन 'आप'तो वहाँ है। अधिक क्या कहें? ईश्वरकी इच्छा ऐसी है, और उसे प्रसन्न रखे बिना छुटकारा नहीं है। नहीं तो ऐसी उपाधियुक्त दशामें न रहें, और मनमाना करें, परमपीयूषमय और प्रेमभक्तिमय ही रहें! परन्तु प्रारब्ध कर्म बलवत्तर है!

आज आपका एक पत्र मिला। पढ़कर हृदयांकित किया। इस विषयमें हम आपको उत्तर न लिखें इस हमारी सत्ताक उपयोग आपके लिये करना योग्य नहीं समझते; तथापि आपको, जो रहस्य मैंने समझा है उसे जताता हूँ कि जो कुछ होता है सो होने देना, न उदासीन होना, न अनुद्यमी होना, न परमात्मासे भी इच्छा